भारत सरकार अधिनियम 1935: एक संक्षिप्त मूल्यांकन

डॉ0 रीना
एम0 ए0 (इतिहास)
बी0 आर0 ए0 बिहार विश्वविद्यालय
मुजफ्फरपुर

सारांश

भारतीय संवैधानिक इतिहास में भारत सरकार अधिनियम, 1935 का अत्यंत उल्लेखनीय स्थान है। 1935 का अधिनियम न सिर्फ स्वतंत्रता–प्राप्ति तक कायम रहा अपितु स्वातंत्र्योत्तर निर्मित संविधान के कई भागों में इसकी झलक देखने को मिलती है। 1935 के भारत सरकार अधिनियम के प्रमुख रूप से जो आधार बने उनमें साइमन आयोग रिर्पोट, नेहरू रिपोर्ट, श्वेत–पत्र, संयुक्त प्रवर समिति रिपोर्ट आदि अग्रगणीय हैं।

प्रस्तुत आलेख में 1935 के अधिनियम की विशेषता को संक्षिप्त रूपेण प्रस्तुत किया गया है।

विशिष्ट शब्दः– अखिल भारतीय संघ, द्वैद्य–शासन

(Key Words) मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार अधिनियम, प्रांतीय स्वायत्तता।

1935 का भारत सरकार अधिनियम पूर्णतया अप्रैल, 1937 में लागू किया गया और यह 14 अगस्त, 1947 तक लागू रहा। इसकी संक्षिप्त भूमिका में बताया गया कि ब्रिटिश राज और भारत के बीच क्या सम्बन्ध होगा। सारे अधिकार, सारी क्षमता महामहिम राजराजेश्वर के हाथ में रहेगी। इस तरह स्पष्ट कर दिया गया था भारत ब्रिटिश साम्राज्य के एक उपनिवेश के अतिरिक्त और कुछ नही है।[1]

अधिनिम काफी लम्बा और जटिल था। इसमे 321 सेक्शन 10 परिशिष्ट थे। इसमें पूर्ण स्वतंत्रता या औपनिवेशिक स्वराज्य के बारे में कोई आश्वासन नहीं दिया गया था और न ही भारत की राष्ट्रीय भावनाओं के बारे में गंभीरतापूर्वक विचार किया गया था। साथ ही भारतीय नागरिकों के मौलिक अधिकारों के बारे में भी चुप्पी साधी गई थी। अधिनियम में ब्रिटिश सम्राट की प्रभुता पर विशेष बल दिया गया। इतना सब कुछ होते हुए भी यह अधिनियम अत्यंत महत्वपूर्ण था क्योंकि इसमे पहली बार ब्रिटिश प्रांतों और देशी रियासतों को मिलाकर केन्द्र में संघ स्थापित करने का सुझाव दिया गया, प्रान्तों में द्वैधशासन के खत्म करके प्रांतीय स्वराज्य शुरू किया गया और केन्द्र में दोहरा शासन या थोड़ी सी उत्तरदायी सरकार पहली बार स्थापित की गई।[2]

प्रस्तावित अखिल भारतीय संघः

भारतीय लोकमत द्वारा साधारणतया यह अनुभव किया जाता था कि भारत जैसे एक विशाल उपमहाद्वीप में, जहाँ भाषा, संस्कृति तथा धार्मिक परिस्थितियों में पर्याप्त विभिन्नताएँ विद्यमान हों, संघीय शासन प्रणाली स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त यह भी समझा जाता था कि अखिल भारतीय संघ की स्थापना से भारत राष्ट्र की एकता को सुदृढ़ किया जा सकेगा। इसलिए 1935 से पहलें भारतीय जनता और अनेक राष्ट्रीय नेताओं द्वारा संघ के विचार के प्रति उत्साह प्रकट किया गया था। बिटिश शासन और उससे सम्बन्धित नौकरशाही किसी भी विचार को अपने स्वार्थ की सिद्धि हेतु प्रयोग करने में दक्ष थे और उन्होंनें भारतीयों के संघ की स्थापना के विचार के साथ भी ऐसा ही व्यवहार किया, जिसके परिणामस्वरूप 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत संघ के निर्माण की एक ऐसी योजना सम्मुख आयी, जिसे भारतीय जनमत के किसी भी पक्ष द्वारा स्वीकार नहीं किया जा सकता था।[3]

सन् 1935 के अधिनियम में संघीय संविधान का प्रावधान किया गया था। गवर्नर वाले प्रान्तों और संघ में शामिल होने वाली भारतीय रियासतों तथा मुख्य आयुक्त के प्रान्तों को मिलाकर एक संघ की स्थापना की जाए।

संघ का निर्माण इस शर्त पर निर्भर करता था कि जबकि कम–से–कम समस्त देशी रियासतों की कुल जनसंख्या की आधी जनसंख्या वाली देशी रियासतों के शासक, जिन्हें संघीय व्यवस्थापिक के उच्च सदन में देशी रियासतों के लिए निर्धारित 104 स्थानों में से कम–से–कम 52 प्रतिनिधि भेजने का अधिकार हो, संघ में सम्मिलित होना स्वीकार कर ले।[4] जैसा कि संयुक्त संसदीय समिति ने कहा, ''पार्लियामेन्ट को न केवल इसके बारे में सन्तुष्ट होने का अधिकार है कि रियासतों की निर्धारित संख्या ने वास्तव में संघ में शामिल होने की इच्छा व्यक्त कर दी है बल्कि ठोस तथा स्थिर आधार पर संघ की सफल स्थापना के लिए आवश्यक राजनीतिक शर्त्ते भी पूरी हो गई है।[5]

संघ में सम्मिलित होने को इच्छुक प्रत्येक देशी रियासत को एक ''प्रवेश प्रपत्र'' पर हस्ताक्षर करने होते थे। इस प्रपत्र में शक्तियों का उल्लेख किया जाता था, जिन्हें वह रियासत संघीय सरकार को हस्तान्तरित करने के लिए तैयार थी। सम्राट द्वारा ऐसे प्रवेश पत्र, जिसकी शर्तें संघ की योजना के अनुरूप न हों।[6] संयुक्त समिति का कथन था कि वह लेखपत्र स्वीकार्य नहीं होगा '' जिसमें शासन द्वारा वांछित अपवाद या आरक्षण ऐसे हैं जिनसे अधिनियम भ्रामक या दिखावा सा हो जायेगा।''[7]

संयुक्त समिति ने यह बात साफ कर दी कि ''....संघीयदलों के बाहर रियासतों के सम्बन्ध अनन्य रूप से ब्रिटिश राज से ही रहेंगे तथा इस सम्बन्ध में ब्रिटिश राज को परामर्श देने का अधिकार महामहिम की सरकार के पास रहेगा।''[8]

संघीय न्यायालयः

1935 के अधिनिमय से पूर्व ब्रिटिश भारत में एकात्मक सरकार थी। प्रान्तों को जो भी शक्तियाँ मिली हुई थीं, वे सब केन्द्र द्वारा सैद्धान्तिक दृष्टि से ही दी गई थीं। 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तों को स्वराज्य दे दिया गया और इन्हें संघीय इकाइयों की तरह प्रयोग में लाया गया। अतः संघीय इकाइयो के आपसी झगड़ो और इनके केन्द्र के साथ झगड़ों का निपटारा करने के लिए संघीय न्यायालय की स्थापना आवश्यक समझी गयी। अक्टूबर, 1937 से संघीय न्यायालय ने अपना कार्य शुरू कर दिया।

अधिनियम में मुख्य न्यायाधीश और सामान्यतया 6 न्यायाधीशों वाले संघीय न्यायालय की स्थापना का प्रावधान किया गया, उन्हें महामहिम द्वारा नियुक्त होना था और वे अच्छे आचरण की शर्त पर ही पद पर रह सकते थे। उनकी सेवानिवृत्ति की आयु 65 वर्ष रखी गई थी।

संघीय न्यायालय का तिहरा अधिकार क्षेत्र थाः मौलिक, अपीलीय अधिकार क्षेत्र और परामर्श देने का अधिकार क्षेत्र।[9] संघीय न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय नहीं था। इसके फैसले के विरूद्ध इसकी आज्ञा के बिना विभिन्न मामलों मं प्रिवी कॉउन्सिल की न्याय समिति को अपनी की जा सकती है।

प्रान्तीय स्वायत्तताः

श्री के० टी० शाह के अनुसार, ''प्रान्तीय स्वायत्त शासन की तथाकथित व्यवस्था के अन्तर्गत मंत्रियों की अपेक्षा गवर्नर को ही अधिक शक्तियाँ प्रदान की गयी है। गवर्नर–जनरल, ब्रिटिश राजमुकुट तथा संसद को दी गयी व्यापक शक्तियों ने प्रान्तीय स्वशासन को नहीं के बराबर कर दिया है जो कि भारतीयों के लिए सबसे बड़ा पुरस्कार समझा जाता है।''

भारतीय शासन अधिनियम, 1935 द्वारा प्रान्तीय शासन की स्थिति में आधारभूत परिवर्तन किया गया। 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तीय सरकारों को जो भी सत्ता प्राप्त थी, वह केन्द्रीय सरकार के द्वारा ही उनको प्रदान की गयी। 1935 के अधिनियम द्वारा पहली बार प्रान्तों को पृथक् वैधानिक सत्ता प्रदान की गयी। अब प्रान्तीय सरकारें भारत सरकार की अभिकर्त्ता मात्र नहीं वरन् उन्हें पृथक् अस्तित्व और सत्ता प्राप्त हो गयी। यद्यपि केन्द्र में संघ की स्थापना हुई, लेकिन 1 अप्रैल, 1937 से प्रांतों को कम या अधिक रूप में स्वायत्तता प्राप्त हो गयी और प्रान्तों के साथ संघीय आधार पर व्यवहार किया जाने लगा।

प्रान्तीय व्यवस्थापिकाः

1935 के अधिनियम द्वारा सभी प्रांतों के लिए एक ही प्रकार के विधानमंडल नहीं बनाए गए थे। आसाम, बंगाल, बिहार संयुक्त प्रांत, मद्रास और बम्बई की व्यवस्थापिका के दो सदन थे। किन्तु पंजाब, सिन्ध, उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रान्त, उड़ीसा और मध्य प्रान्त में सिर्फ एक सदन था प्रथम सदन का नाम विधानसभा एवं द्वितीय सदन का नाम विधान परिषद् था। विधानसभा के सभी सदस्य निर्वाचित होते थे, किन्तु विधान परिषद् में निर्वाचित सदस्यों के साथ नामजद सदस्य भी होते थे।

विधान परिषदो का उपबन्ध 6 प्रान्तो के लिए था। विधान परिषदों में सदस्यों की संख्या मद्रास में 54–56 के बीच, बम्बई में 29–30, बंगाल में 63–65, संयुक्त प्रान्त में 58–60, बिहार में 29–30, और असम में 21 से कम नहीं और 22 से अधिक नहीं होती थी। विधाानसभाओं में सदस्यों की संख्या इस प्रकार थी : पंजाब 175, मद्रास 215, बम्बई 175, बंगाल 250, उत्तरप्रदेश (संयुक्त प्रान्त)220, बिहार 152, मध्यप्रान्त तथा बरार 112, असम 108, उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रान्त 50, उड़ीा 60 तथा सिन्ध 60।[10]

प्रान्तीय विधानसभा में 1919 के मांटेग्यू–चेम्सफोर्ड ऐक्ट के अनुसार नामजद सदस्य थे परन्तु 1935 के ऐक्ट के अनुसार इस पद्धति को पूर्णरूपेण समाप्त कर दिया गया। अब प्रान्तीय विधानसभा में केवल चुने हुए सदस्य ही रखे गए। विधान परिषद् में चुने हुए सदस्यों के अतिरिक्त कुछ नामजद सदस्य थी थे। दोनों सदनों के लिए प्रत्यक्ष चुनाव रखे गए। प्रांतीय विधानमंडल में प्रतिनिधित्व का आधार साम्प्रदायिक पंचाट था। पहले जो प्रतिनिधित्व देने की साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति चल रही थी, न उसको राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध कायम रखा गया बल्कि इसको अनेक हितों और वर्गों में और अधिक बढ़ा दिया गया।[11]

प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं का मूल्यांकनः

इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि 1935 के ऐक्ट द्वारा प्रान्तीय व्यवस्थापिका की स्थिति में सुधार और इसकी शक्तियों में वृद्धि की गयी थी। इन व्यवस्थापिकाओं की सदस्यता में वृद्धि की गयी, प्रत्यक्ष निर्वाचन के सिद्धान्त को अपनाया गया और निर्वाचकों की संख्या में वृद्धि की गयी।

किन्तु इन सुधारों के आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि प्रान्तीय व्यवस्थापिकाएँ जनता की सच्ची प्रतिनिध्यात्मक संस्थाएँ थीं और उन्हें वास्तविक शक्तियाँ प्राप्त थीं। साम्प्रदायिक और वर्गीय आधार पर निर्मित व्यवस्थापिकाएँ जनता की सच्ची प्रतिनिधि हो ही नहीं सकती। ''विधानपरिषदों का गठन तो अलोकतंत्रात्मक पद्धति पर किया गया और वे अनुदारवाद और प्रतिक्रियावादिता के गढ़ बन गयी थी। विधानसभा के गठन में अब भी 86 प्रतिशत जनता मताधिकार से वंचित थी। इसके अतिरिक्त अधिनियम द्वारा व्यवस्थापिका की विधायी, प्रशांसकीय एवं वित्तीय शक्तियों पर अनेक प्रतिबंध लगाकर इसे बहुत अधिक शक्तिहीन कर दिया गया था।

अधिनियम में यह प्रावधान किया गया कि कमांडर–इन–चीफ के वेतन और भत्ते तथा अन्य शर्तें सपरिषद् महामहिम द्वारा निर्धारित की जाएगी।

यद्यपि 1919 के ऐक्ट में लोक सेवा आयेाग की स्थापना का प्रावधान किया गया था तथापि इसे अखिल भारतीय तथा उच्चतर केन्द्रीय सेवाओं की भर्ती के लिए 1926 तक स्थगित नहीं किया गया। साथ ही 1929 में प्रान्तीय विधानमंडल के ऐक्ट के अन्तर्गत मद्रास में आयोग स्थापित किया गया था। सन् 1935 के ऐक्ट ने संघ तथा प्रत्येक प्रांत में लोक सेवा आयोग की स्थापना के लिए प्रावधान किया।

''मूरलैण्ड के अनुसार'', 1926 की घोषणा और वेस्टमिस्टर की संविधि द्वारा पुष्टि होने से पहले डोमीनियनों को उनका स्वशासन की अधिकार परंपरा तथा अभिसमय से प्राप्त हुआ। सन् 1935 के अधिनियम के अंतर्गत उसी प्रकार की प्रगति हो सकती थी।''[12] परन्तु

अधिनियम इतना सुस्पष्ट तथा अनमनीय था कि स्वस्थ परंपरा तथा अभित के विकास के लिए उसमें अधिक गुंजाइश न थी। श्वेतपत्र ने यह प्रत्याशा की थी कि संविधान के कार्यन्वयन के लिए उत्तरदायी व्यक्ति ''संयुक्त उद्यम में साझेदारी की भावना'' से काम करेंगे और ''विशेष उत्तरदायित्वों से सम्बन्धित अधिकारों से काम नहीं लिया जाएगा।''

1 अप्रैल, 1937 को 1935 का अधिनियम लागू हो गया, लेकिन अखिल भारतीय संघ विषयक इसका भाग–2 तथा संघीय रेलवे प्राधिकरण विषयक भाग–3, कार्यान्वित नहीं हो सके। चूँकि कोई भी रियासत संघ में शामिल नहीं हुई इसलिए, प्रस्तावित संघ अस्तित्व में नहीं आया। जहाँ तक इसके प्रांतीय भाग का सम्बन्ध था, यह ऐक्ट 1947 तक लागू रहा और 1947 में सत्ता के हस्तांतरण के बाद इसमें मुख्य परिवर्तन लाए गए।

संदर्भ:

1. भारत, का मुक्ति संग्राम, अयोध्या सिंह, मैकमिलन, दिल्ली, 1977, पृ० 636
2. भारत का संविधान, विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन, आर० सी० अग्रवाल, एस० चन्द एण्ड कं०, नई दिल्ली, 1996, पृ० 266
3. भारत में स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, पुखराज जैन साहित्य भवन, आगरा, 1991, पृ० 211
4. 1935 का अधिनियम की धारा 5
5. संयुक्त संसदीय समिति रिपोर्ट, खंड–1, (ए० सी० बनर्जी की पुस्तक में उद्धत) पृ० 119
6. धारा 6, 1935 का भारत सरकार अधिनियम
7. संयुक्त संसदीय समिति रिपोर्ट, उपरोक्त
8. वही ।
9. भारत का संवैधानिक इतिहास, ए० सी० बनर्जी, पृ० 142 एवं 1935 के अधिनियम की धाराएँ 200, 204– बी. 210
10. 1935 की धाराएँ 60, 61 पाँचवी अनुसूची।
11. भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन, आर०सी० अग्रवाल, उपरोक्त, पृ० 306–07
12. दी कांस्टीच्यूशनल प्राब्लम इन इंडिया, भाग–1, आर०कूपलैण्ड, लंदन, 1944, पृ० 147 ।